

मुझे प्रतीत होता है कि मनुष्य शताब्दियों से शांति, मुक्ति तथा परमानंद की उस स्थिति को खोजता रहा है, जिसे वह ईश्वर कहता है। इसे उसने भिन्न-भिन्न नामों से और इतिहास के अलग-अलग कालखंडों में ढूंढा है; तथा स्पष्टतया कुछ ने ही उस महान शांति व मुक्ति के आंतरिक भाव को, उस अवस्था को पाया है, जिसे मनुष्य ईश्वर कहता रहा है। आधुनिक समय में ईश्वर शब्द का महत्त्व इतना घट चुका है कि हम जब इस शब्द का प्रयोग करते हैं, तो उसका बहुत ही नगण्य अर्थ होता है। हम सदा इस संसार से दूर किसी परमानंद, शांति व मुक्ति की अवस्था को खोजते रहते हैं, तथा कुछ ऐसा पा लेने के लिए हम इस संसार से विविध रूपों में पलायन करते रहते हैं जो टिकाऊ हो, जो हमें शरण-स्थान एवं पुनीतता दे सके, जो हमें किसी गहन आंतरिक शांति का कुछ भाव प्रदान कर सके। किसी का ईश्वर में विश्वास करना या नहीं करना मानसिक प्रभाव, परंपरा व जलवायु पर निर्भर करता है। आनंद की उस स्थिति, उस स्वातंत्र्य, उस असाधारण शांति के--जो जीवंत है--अन्वेषण हेतु, मेरे विचार में, व्यक्ति को यह समझना होगा कि क्यों वह तथ्य का सामना करने व उस तथ्य को रूपांतरित करने और उससे परे जाने में समर्थ नहीं हो पाता।

यदि हो सका तो मैं इस बारे में बात करना चाहूंगा, बल्कि साथ-साथ, इस भाव को संप्रेषित करना चाहूंगा कि क्यों हम विचार को इतना अधिक महत्त्व देते हैं और कर्म को नहीं। यद्यपि हम इस बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार से, अलग-अलग समय पर, और यहां बंबई में भी इन वार्ताओं के दौरान बात कर चुके हैं, मैं इस विषय को एक अलग तरीके से लेना चाहूंगा। क्योंकि मुझे ऐसा लगता है कि हम कुल मिला कर पूरी तरह से इस समाज के लिए ज़िम्मेवार हैं, जिसमें हम रहते हैं। हममें से प्रत्येक व्यक्ति पूरी तरह से, समग्र रूप से इस दुर्दशा के लिए, इस विभ्रम के लिए, आधुनिक जीवन की इस निपट नृशंसता के लिए उत्तरदायी है। हम संभवतः इससे पलायन नहीं कर सकते; हमें इसे रूपांतरित करना होगा। मनुष्य इस समाज का हिस्सा है तथा यह समाज उसी का बनाया हुआ है, इसके लिए वह हर तरह से और पूरे तौर पर ज़िम्मेवार है; उसे इस समाज को रूपांतरित करना होगा, और अपने खुद के भीतर तथा उसके द्वारा समाज के ढांचे में भी एक आमूल परिवर्तन, एक रूपांतरण लाना उसके लिए तभी संभव है, जब वह अवधारणाओं में, विचारों में पलायन करना बंद कर दे।

ईश्वर एक अवधारणा है, जो जलवायु, उस वातावरण तथा उस परंपरा पर आधारित है, जिसमें आपका पालन-पोषण हुआ है। साम्यवादी संसार में लोग ईश्वर पर विश्वास नहीं करते, यह भी उनकी परिस्थितियों पर ही आधारित है। यहां आपका आधार आपकी परिस्थितियां, आपका जीवन और आपकी परंपराएं हैं और उसी पर आपने यह अवधारणा निर्मित की है। हमें इन परिस्थितियों से, समाज से स्वयं को मुक्त करना होगा, तथा केवल तभी मनुष्य के लिए, अपनी स्वतंत्रता में ही, उसका अन्वेषण संभव है, जो सत्य है। किंतु ईश्वर नाम के एक विचार में पलायन करने मात्र से समस्या कतई हल नहीं होती है।

‘ईश्वर’--या और जो भी नाम आप इस्तेमाल करना चाहें--मनुष्य का चालाकी भरा आविष्कार है, तथा हम उस आविष्कार को, उस चालाकी को धूपबत्ती से, कर्मकांडों से, तरह-तरह के विश्वासों, मतों से ढांपते रहते हैं; हमने मनुष्य को कैथोलिक, हिंदू, मुस्लिम, पारसी, बौद्ध के रूप में बांट दिया है। जो सब की सब मनुष्य द्वारा ही आविष्कृत चतुर-चालाक संरचनाएं हैं। और मनुष्य इसका आविष्कार करके, इसी में फंस गया है। बिना वर्तमान संसार को समझे, उस संसार को जिसमें वह रहता है--उसकी दुर्दशा का संसार, उसके विभ्रम, दुःख, दुश्चिंता, हताशा और अस्तित्व के संत्रास का संसार, अशेष अकेलापन, जीवन की नितांत अर्थहीनता का एहसास, बिना इस सब को समझे, केवल अवधारणाओं को बहुगुणित करते जाना चाहे जितना संतोषदायी लगे, उसके मायने कुछ भी नहीं हैं।

यह समझना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि क्यों हम किसी अवधारणा को निर्मित या प्रतिपादित करते हैं। मन एक अवधारणा का प्रतिपादन करता ही क्यों है? *प्रतिपादन* से मेरा अभिप्राय है, दार्शनिक या तार्किक अथवा मानवतावादी या भौतिकवादी अवधारणाओं का कोई ढांचा बनाना। अवधारणा संगठित विचार है; उस संगठित विचार, विश्वास, अवधारणा में मनुष्य जीता है। हम सब यही करते हैं, चाहे हम धार्मिक हों या अधार्मिक। मेरे विचार में यह पता लगाना महत्त्वपूर्ण है कि मनुष्य हमेशा से अवधारणाओं को इतना असाधारण महत्त्व क्यों देता आया है। हम अवधारणाएं प्रतिपादित करते ही क्यों हैं? हम ज़िंदगी से सीधे-सीधे क्यों नहीं मिल पाते हैं, कर्म क्यों नहीं हो पाता, हमेशा क्रियाशीलता संभव क्यों नहीं होती? यदि हम अपना अवलोकन करें, तो यह बात स्पष्ट होगी कि हम अवधारणाएं तब निर्मित करते हैं, जब अनवधान होता है, ध्यान का अभाव होता है। जब आप पूरी तरह सक्रिय होते हैं, जिसके लिए समग्र अवधान की ज़रूरत होती है--जो कि कर्म है--उस स्थिति में कोई अवधारणा नहीं होती, आप कर्म कर रहे होते हैं।

यदि मेरा सुझाव मानें, तो सिर्फ सुनें। स्वीकार या अस्वीकार न करें; अपने विचारों, विश्वासों, विरोधाभासों तथा ऐसी अन्य बातों की दीवारें खड़ी करके सुन पाने में रुकावटें पैदा न करें। बस केवल सुनें। हम आपको किसी बात के लिए कायल करने का प्रयास नहीं कर रहे हैं; किसी भी तरीके से, हम आप पर यह ज़ोर नहीं डाल रहे हैं कि आप किसी अवधारणा या ढांचे या कर्म का अनुसरण करें। हम तो केवल तथ्य बता रहे हैं, चाहे आप उन्हें पसंद करें या न करें; और महत्त्व की बात है तथ्य के बारे में सीखना। 'सीखने' में समग्रता से सुनना, पूरी तरह से अवलोकन करना निहित है। जब आप उस कौए की आवाज़ सुनें तो अपने खुद के शोर, अपने ही भयों, विचारों, अपनी अवधारणाओं, मतों के साथ न सुनें। तब आप देखेंगे कि कोई धारणा, कोई विचार बीच में नहीं आता है, बल्कि आप वाकई में सुन रहे होते हैं।

ठीक उसी तरह से, मेरा सुझाव है आप बस सुनें। मात्र सुनें, न केवल चेतन रूप से, बल्कि अचेतन स्तर पर भी--जो संभवतः कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। हममें से अधिकतर लोग प्रभावित हो जाते हैं। चेतन प्रभावों को हम नकार सकते हैं, लेकिन अचेतन प्रभावों को परे हटा देना कहीं अधिक कठिन है। जिस ढंग से सुनने की हमने बात की है, जब आप उस तरह से सुन रहे होते हैं, तो यह मात्र चेतन अथवा अचेतन श्रवण नहीं होता। तब आप पूरी तरह सावधान, ध्यानपूर्वक होते हैं। और अवधान आपका अथवा मेरा नहीं होता है। यह राष्ट्रवादी नहीं होता, यह धार्मिक नहीं होता, इसके खंड नहीं किए जा सकते। अतएव जब आप पूर्ण रूप से सुन रहे होते हैं तो कोई अवधारणा नहीं होती, बस एक सुनने की अवस्था होती है। हममें से अधिकतर ऐसा तब करते ही हैं जब कुछ मधुर श्रवण कर रहे होते हैं, जब कर्णप्रिय संगीत सुनाई दे रहा होता है अथवा जब आप एक पर्वत को, शाम के उजाले को या पानी पर झिलमिल करते प्रकाश को या किसी बादल को देखते हैं; तब अवधान की उस स्थिति में, सुनने, देखने की उस अवस्था में कोई अवधारणा नहीं होती है, विचार नहीं होता है।

इसी तरह से यदि आप उतनी आसानी से, उस प्रकार के प्रयास रहित अवधान के साथ सुन पाएं, तब संभवतः हम अवधारणा और क्रिया अर्थात् विचार और कर्म के विषय की महती सार्थकता को देख सकेंगे। जैसा कि मैं कह रहा था, हममें से अधिकतर में जब अनवधान, सावधानी का अभाव होता है, तभी हम अवधारणाएं बुनने लगते हैं। हम अवधारणाओं की निर्मिति अथवा कल्पना तब करते हैं, जब वे अवधारणाएं हमें एक सुरक्षा, एक निश्चितता का भाव प्रदान करती हों। और निश्चितता तथा सुरक्षित होने का यह भाव ही अवधारणाओं को जन्म देता है, एवं इन्हीं अवधारणाओं, इन्हीं विचारों में हम पलायन करते रहते हैं,

और इसीलिए कर्म हो नहीं पाता है। जब हम, जो है, उसे पूरी तरह समझ नहीं पाते, तो हम अवधारणाएं निर्मित या प्रतिपादित कर लिया करते हैं। इस तरह अवधारणाएं तथ्य से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं।

यह मालूम करने के लिए, वस्तुतः इस तथ्य का पता लगाने के लिए कि ईश्वर है या नहीं, अवधारणाओं की कतई कोई सार्थकता नहीं है। आप विश्वास करते हैं या नहीं करते हैं, आप आस्तिक हैं या अनीश्वरवादी हैं, इन सारी बातों का कुछ मतलब नहीं है। अन्वेषण के लिए, पता लगाने के लिए आपको अपनी पूरी ऊर्जा की दरकार होगी--आपकी समस्त ऊर्जा; ऐसी ऊर्जा जिसमें दाग-धब्बे नहीं हैं, खरोंचे नहीं हैं, वह ऊर्जा जो विकृत नहीं की गई है, जिसे दूषित नहीं किया गया है।

अतः यह समझने, पता लगाने के लिए कि क्या उस यथार्थ जैसा कोई तत्त्व है, जिसे मनुष्य लाखों-लाखों वर्षों से खोजता रहा है, व्यक्ति के पास ऊर्जा होनी चाहिए, ऐसी ऊर्जा, जो पूर्णतः समग्र, दूषणरहित हो। और उस ऊर्जा के प्रादुर्भाव हेतु हमें प्रयास को समझ लेना होगा।

हममें से अधिकतर लोग अपना जीवन प्रयासों में, संघर्ष में बिता देते हैं और यह प्रयास, यह संघर्ष, यह प्रयत्न उस ऊर्जा का अपव्यय है। आदमी ने, पूरे ऐतिहासिक काल में, कहा है कि यथार्थ या ईश्वर को--चाहे जो नाम उसने उसे दिया हो--पाने के लिए आपको अविवाहित रहना होगा, मतलब यह कि आपको ब्रह्मचर्य की शपथ लेनी होगी तथा इस शपथ को कायम रखने के लिए जीवन पर्यंत अंतहीन दमन, नियंत्रण, स्वयं से संघर्ष करना होगा। देखिए तो ऊर्जा की इस बरबादी को ! भोग-विलास में जुटे रहना भी ऊर्जा की बरबादी ही है। तथा जब आप दमन करते हैं तो उसके निहितार्थ और अधिक दूर तक जाते हैं। दमन में, नियंत्रण में, अपनी कामना के उस नकार में जो प्रयास लगता है, वह आपके मन को विकृत कर देता है, तथा इस विकृति में आपको एक प्रकार की संयमशीलता का एहसास होता है, जिससे कठोरता आ जाती है। कृपया सुनें। स्वयं का अवलोकन करें एवं अपने आस-पास के लोगों का अवलोकन करें; और ऊर्जा की इस बरबादी का, इस लड़ाई का अवलोकन करें। यौन में, सेक्स में जो निहित है, वह नहीं, वास्तविक क्रिया नहीं, बल्कि वे कल्पनाएं, वे बिंब, वह मनोसुख--इस सब के बारे में लगातार चलता विचार ऊर्जा की बरबादी है। और अधिकतर लोग या तो आत्मदमन से या यौन-शुचिता की शपथ लेकर या इसके विषय में अंतहीन विचार करते हुए अपनी ऊर्जा गंवाते रहते हैं।

जिस समाज में हम रहते हैं, उसकी इस हालत के लिए मनुष्य उत्तरदायी है--आप उत्तरदायी हैं, और मैं। उत्तरदायी आप हैं, आपके राजनीतिज्ञ नहीं, क्योंकि राजनीतिज्ञों को आपने ही वैसा बनाया है, जैसे वे हैं--कूटिल, अपने को महिमामंडित करते, पद व प्रतिष्ठा की खोज में लगे--यही सब हम भी अपने रोज़ के जीवन में कर रहे हैं। समाज के लिए ज़िम्मेवार हम हैं। समाज के संघटनात्मक पक्ष की अपेक्षा समाज की मनोवैज्ञानिक संरचना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। समाज का मनोवैज्ञानिक ढांचा लालच, डाह, बटोरने की ललक, होड़, महत्त्वाकांक्षा व भय पर आधारित है, अपने सभी संबंधों में सुरक्षित होने, संपत्ति के द्वारा सुरक्षित होने, लोगों से संबंध बनाकर सुरक्षित होने, अवधारणाओं, विचारों के साथ अपने संबंधों में सुरक्षित होने की अनवरत मांग पर आधारित है। यह है समाज का ढांचा, जिसे व्यक्ति ने ही बनाया है। और तब समाज हममें से हर एक पर मानसिक रूप से यह ढांचा थोपता है। तो लालच, डाह, महत्त्वाकांक्षा, प्रतिस्पर्द्धा--यह सब ऊर्जा का अपव्यय है, क्योंकि इसमें हमेशा अंतर्द्वंद्व होता है--अंतहीन अंतर्द्वंद्व, जैसा कि उस व्यक्ति में होता है जो ईर्ष्यालु है।

ईर्ष्या एक अवधारणा है। अवधारणा तथा तथ्य दो अलग-अलग बातें हैं। कृपया सुनें। आप इस 'ईर्ष्या' नामक भावना को अवधारणा के माध्यम से देखते हैं। आप ईर्ष्या नाम के इस एहसास के सीधे संपर्क में नहीं होते हैं, बल्कि आप ईर्ष्या को एक शब्द विशेष की स्मृति के माध्यम से देखते हैं, जिसे आपने ईर्ष्या के रूप में अपने मन में स्थापित कर लिया है। यही एक अवधारणा का रूप ले लेता है, और वह आपको प्रत्यक्ष रूप से उस भावना के संपर्क में आने से रोकता है, जिसे आप ईर्ष्या कहते हैं। पुनः, यह एक तथ्य है। तो वह प्रतिपादन, वह विचार आपको उस भावना के प्रत्यक्ष संपर्क में आने से रोकता है, और इसलिए उस विचार, उस अवधारणा से ऊर्जा का क्षरण होता है।

चूंकि इस दुर्दशा के लिए, गरीबी के लिए, युद्धों के लिए, शांति के नितांत अभाव के लिए हम ही उत्तरदायी हैं, इसलिए धार्मिक व्यक्ति ईश्वर को नहीं खोजा करता। धार्मिक व्यक्ति का सरोकार समाज के रूपांतरण से होता है, जो समाज वह स्वयं ही है। धार्मिक व्यक्ति वह नहीं है जो असंख्य कर्मकांडों में लगा रहता है, परंपराओं का अनुसरण करता है, किसी मृत, भूतकालिक संस्कृति में रहता है, गीता या बाइबल की अंतहीन व्याख्या करता रहता है, अनवरत मंत्रपाठ करता रहता है या संन्यास धारण कर लेता है; वह धार्मिक व्यक्ति नहीं है, ऐसा व्यक्ति तो तथ्यों से भाग रहा है। धार्मिक व्यक्ति का संबंध तो पूर्णतया, समग्र रूप से समाज को समझने से है, जो वह स्वयं है। वह समाज से भिन्न नहीं है। अपने आप में एक समग्र, संपूर्ण मौलिक परिवर्तन लाने का अर्थ है, लालच, ईर्ष्या, महत्त्वाकांक्षा की पूरी तरह समाप्ति, और इसलिए वह परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करता है, यद्यपि वह परिस्थितियों का ही परिणाम है, यानी जो भोजन वह खाता है, जो कितना वह पढ़ता है, जो सिनेमा वह देखने जाता है, धार्मिक रूढ़ियों, विश्वास, कर्मकांड और उस सारे गोरखधंधे का परिणाम वह है। वह ज़िम्मेवार है; और इसलिए धार्मिक व्यक्ति को स्वयं को समझना होता है, वह स्वयं उस समाज की ही उपज है, जिसे उसने खुद बनाया है। अतः यथार्थ को पाने के लिए उसे आरंभ यहीं से करना होता है, किसी मंदिर से नहीं, किसी प्रतिमा में नहीं--चाहे प्रतिमा हाथ से गड़ी हुई हो या मन से। अन्यथा वह कुछ पूर्णतः नया, एक नूतन अवस्था कैसे पा सकता है?

शांति मात्र कानून अथवा संप्रभुता का विस्तार नहीं है। शांति उससे एकदम अलग है, यह एक आंतरिक अवस्था है, जो संभवतः बाह्य परिस्थितियों में बदलाव लाकर नहीं लाई जा सकती, यद्यपि बाह्य परिस्थितियां बदलना भी आवश्यक है। परंतु एक भिन्न प्रकार के संसार को अस्तित्व में लाने के लिए प्रारंभ भीतर से ही करना होगा। तथा एक अलग तरह की दुनिया ले आने के लिए आपको विराट ऊर्जा की जरूरत पड़ती है, तथा उस ऊर्जा की इस समय अनवरत दंड में बरबादी की जा रही है। इसलिए हमें इस दंड को समझना होगा।

दंड का प्राथमिक कारण पलायन है--विचार के माध्यम से पलायन। कृपया स्वयं का अवलोकन करें; ईर्ष्या, डाह का सामना करने की बजाय इसके सीधे संपर्क में आने की बजाय, आप कहते हैं, "मैं इससे कैसे छूटूं? मैं क्या करूं? कौन सी विधियां हैं, जिन्हें अपना कर मैं ईर्ष्यालु नहीं हो सकूंगा?"--जो सभी विचार हैं, अवधारणाएं हैं और इसलिए इस तथ्य से पलायन है कि आप ईर्ष्यालु हैं, यह इस तथ्य से दूर चले जाना है कि आप ईर्ष्यालु हैं। अवधारणाओं के माध्यम से तथ्य से दूर हटना न सिर्फ आपकी ऊर्जा व्यर्थ करता है, बल्कि तथ्य के सीधे संपर्क में आने से आपको रोकता है। तो अब आपको अपना पूरा ध्यान देना होता है, किसी अवधारणा, विचार के माध्यम से नहीं; विचार, जैसा कि हमने कहा था, अवधान में, ध्यान देने में बाधा बनता है। तो जब आप ईर्ष्या के इस भाव का अवलोकन करते हैं, या इसके प्रति सजग होते हैं, और इसे बिना अवधारणाओं के, बिना विचारों के पूर्ण अवधान देते हैं, तो आप देखेंगे कि आप न सिर्फ उस भाव के सीधे संपर्क में होते हैं, अपितु चूंकि आपने इस भाव को, बिना अवधारणाओं, विचारों

को बीच में लाए, अपना पूर्ण अवधान, पूरा ध्यान दिया है, इस भाव का अवसान हो जाता है; और तब आपमें आगामी घटना अथवा आगामी भावना, अगले एहसास से मिल पाने के लिए और अधिक ऊर्जा होती है।

अन्वेषण के लिए, एक संपूर्ण मूल परिवर्तन लाने के लिए आपमें ऊर्जा होनी चाहिए--वह ऊर्जा नहीं जो दमन के द्वारा लायी जाती है, बल्कि वह ऊर्जा जो आपको तब उपलब्ध होती है, जब आप अवधारणाओं के माध्यम से या फिर दमन के द्वारा तथ्य से पलायन नहीं कर रहे होते हैं। वास्तव में, यदि आप इस पर गौर करें, तो जीवन जीने के हमें केवल दो ही रास्ते मालूम हैं--या तो हम इससे पूरी तरह से पलायन करते हैं, जो विक्षिप्तता का ही एक रूप है और जो मानसिक असंतुलन की दिशा में ले जाता है, या फिर हम सब कुछ दमित करते जाते हैं, दबाते जाते हैं, क्योंकि हम समझते नहीं हैं। हमें बस यही मालूम है।

किसी भावना या संवेदन को ढक देना, दबा देना ही दमन नहीं है, बल्कि बौद्धिक स्पष्टीकरण, तर्कसंगत व्याख्या भी एक प्रकार से दमन ही हैं। कृपया स्वयं का अवलोकन करें, और आप देखेंगे कि जो कहा जा रहा है, वह कितना तथ्यपरक है। इसलिए यह आवश्यक है कि आप पलायन न करें। और यह पता लगाना सबसे महत्वपूर्ण बातों में से एक है कि कभी पलायन न करें। यह पता लगाना सबसे कठिन बातों में से एक है--क्योंकि हम शब्दों द्वारा पलायन करते हैं। हम तथ्य से पलायन सिर्फ मंदिरों की तरफ भाग कर तथा दूसरे वैसे कामों के द्वारा ही नहीं करते, बल्कि शब्दों के द्वारा, बौद्धिक बहसों, अभिमतों, निर्णयों व मूल्यांकनों के माध्यम से भी पलायन करते हैं। तथ्य से पलायन के हमारे पास बहुत सारे तौर-तरीके हैं। उदाहरण के लिए यह तथ्य लें कि हम मतिमंद हैं। यदि हम मतिमंद हैं तो यह एक तथ्य है। और जब आपको इस बात का एहसास होता है कि आप मतिमंद हैं, तो चतुर बनने की कोशिश करना पलायन है। परंतु संवेदनशील होने के लिए यह ज़रूरी है कि आपका समस्त अवधान, पूरा ध्यान मन की उस स्थिति की ओर निर्देशित हो, जो मंद है, समझने में सुस्त है।

अतः हमें ऊर्जा की आवश्यकता होती है, जो किसी विरोधाभास, किसी तनाव का परिणाम नहीं होती, बल्कि जिसका आगमन तब होता है, जब कोई भी प्रयास न हो। कृपया इस एकदम सरल, वास्तविक तथ्य को समझ लें : हम अपनी ऊर्जा का अपव्यय प्रयास के द्वारा किया करते हैं तथा ऊर्जा का प्रयास द्वारा यह अपव्यय हमें तथ्य के सीधे संपर्क में आने से रोकता है। जब मैं आपको सुनने के लिए ज़बरदस्त प्रयास कर रहा होता हूँ, तो मेरी सारी ऊर्जा इस प्रयास में जा रही होती है, तथा मैं वस्तुतः सुन नहीं रहा होता हूँ। जब मैं क्रोधित या अधीर होता हूँ, तो मेरी सारी ऊर्जा यह कहने में जाती है, “मुझे क्रोधित नहीं होना चाहिए”। किंतु जब मैं शब्दों के द्वारा अथवा निंदा या निर्णय के द्वारा पलायन न करते हुए, पूरी तरह से क्रोध अथवा मन की उस अवस्था पर ध्यान देता हूँ, तब उस अवधान की अवस्था में क्रोध नामक उस लक्षण से मुक्ति घटित होती है। अतः अवधान, जो ऊर्जा की समग्रता है, प्रयास नहीं है। केवल वही मन जो प्रयासरहित होता है, धार्मिक मन है। और इसलिए ऐसा मन ही पता लगा सकता है कि ईश्वर है, या नहीं है।

यहां एक और कारक है--हम अनुकरणशील मानव हैं। हममें कुछ भी मौलिक नहीं है। हम हजारों सालों के समाज के परिणाम हैं। बचपन से ही हमें अनुकरण करने, आज्ञा मानने, परंपरा की नकल करने, धर्म-शास्त्रों का पालन करने, सत्ता का अनुसरण करने के लिए पोषित किया गया है। हम कानून की सत्ता की बात नहीं कर रहे, उसका तो पालन करना ही होगा, बल्कि हम तो शास्त्रों, आध्यात्मिक सत्ता-प्रामाण्य, उस ढांचे, उस ढर्रे की बात कर रहे हैं। हम आज्ञा मानते रहते हैं और अनुकरण करते रहते हैं।

जब आप अनुकरण करते हैं--जो आंतरिक रूप से किसी समाज द्वारा थोपे या स्वयं अपने ऊपर थोपे हुए किसी प्रारूप को अपनाना है--तो ऐसी सहमति, ऐसा अनुकरण, ऐसी आज्ञाकारिता ऊर्जा की प्रांजलता को, स्पष्टता को नष्ट करती है। आप अनुकरण करते हैं, आप सहमत होते हैं, आप सत्ता का आज्ञा-पालन करते हैं, क्योंकि आप डरे हुए हैं। वह व्यक्ति जो समझ रहा है, जो स्पष्टता से देख रहा है, जो अवधानपूर्ण, ध्यानपूर्वक है, उसे कोई डर नहीं है, इसलिए उसके पास अनुकरण करने का भी कोई कारण नहीं है। वह प्रत्येक क्षण में वही होता है, जो वह वास्तव में है--चाहे उस क्षण उसकी वास्तविकता जो भी कुछ हो।

तो अनुकरण, किसी धार्मिक प्रारूप का अनुपालन, या किसी धार्मिक प्रारूप की अस्वीकृति किंतु अपने खुद के अनुभव की स्वीकार्यता--यह सब भय का ही परिणाम है। और जो भयभीत है, चाहे ईश्वर से, चाहे समाज से, चाहे अपने आप से--ऐसा मनुष्य धार्मिक मनुष्य नहीं है। तथा मनुष्य मुक्त तभी होता है, जब कोई भय नहीं होता। इसलिए उसे भय के प्रत्यक्ष संपर्क में आना होगा, भय की अवधारणा, भय के विचार के माध्यम से नहीं।

उस निष्कलुष, निर्दोष, जीवंत ऊर्जा का सघन आगमन तभी संभव है, जब आप अस्वीकार करते हैं। मुझे नहीं मालूम कि आपने कभी इस बात पर गौर किया है कि जब आप कुछ अस्वीकृत करते हैं, किसी प्रतिक्रिया की तरह नहीं, तो वह अस्वीकृति ऊर्जा सृजित करती है। जब आप अस्वीकृत करते हैं, जैसे कि महत्वाकांक्षा को--इसलिए नहीं कि आप आध्यात्मिक होना चाहते हैं, कि आप शांत जीवन बिताना चाहते हैं, कि आपको ईश्वर या कुछ और चाहिए, बल्कि बस अस्वीकृत कर देते हैं; जब आप महत्वाकांक्षा से जुड़े अंतर्द्वंद्व की अतीव विनाशकारी प्रकृति को समझ लेते हैं, और इसे अस्वीकृत कर देते हैं, तो अस्वीकृति का वह कृत्य ही ऊर्जा है। मुझे नहीं पता कि आपने कभी कुछ अस्वीकार किया है या नहीं। जब आप किसी सुख विशेष को अस्वीकृत करते हैं--जैसे जब आप सिगरेट पीने के सुख को अस्वीकार कर देते हैं, इसलिए नहीं कि आपके डॉक्टर ने कहा है कि यह आपके फेफड़ों के लिए नुकसानदेह है, इसलिए नहीं कि आपके पास दिन भर में ढेर सारी सिगरेट पीने के लिए पैसे नहीं हैं, इसलिए नहीं कि आप एक गुलाम बना देने वाली आदत में फंस गये हैं, बल्कि इसलिए कि आप देख लेते हैं कि इसका कोई मतलब ही नहीं है--जब आप इसे बिना किसी प्रतिक्रिया के अस्वीकार कर देते हैं, तो वह अस्वीकृति एक ऊर्जा लाती है। इसी प्रकार जब आप समाज को अस्वीकृत करते हैं, उस तरह नहीं, जैसे संन्यासी, भिक्षु और तथाकथित धार्मिक लोग इससे भाग जाया करते हैं, बल्कि जब आप समाज की मनोवैज्ञानिक संरचना को पूर्णतया अस्वीकृत कर देते हैं--तो इस अस्वीकृति से आपको अगाध ऊर्जा उपलब्ध होती है। अस्वीकार की यह क्रिया ही ऊर्जा है।

अब आपने स्वयं यह देखा है या समझ लिया है या इस शाम सुना है कि द्वंद्व व प्रयास, जो ऊर्जा का क्षरण करते हैं, इनकी प्रकृति क्या है; और आपने ऊर्जा के इस भाव को मात्र शाब्दिक रूप से नहीं अपितु वस्तुतः समझा या जाना है कि यह ऊर्जा द्वंद्व का परिणाम नहीं है, बल्कि इसका प्राकट्य तब होता है, जब मन ने पलायनों, दमन, द्वंद्व, अनुकरण, भय के पूरे जंजाल को समझ लिया होता है। तब आप आगे बढ़ सकते हैं, तब आप स्वयं यह पता लगाना आरंभ कर सकते हैं कि यथार्थ क्या है और यह अन्वेषण पलायन नहीं होगा, इस दुनिया की अपनी ज़िम्मेदारियों से भागना नहीं होगा। यथार्थ क्या है, शुभ क्या है--यदि शुभ होता है तो--इसका अन्वेषण आप विश्वास के द्वारा नहीं, वरन् अपनी संपत्ति के साथ, लोगों

के साथ, अवधारणाओं के साथ अपने संबंधों को रूपांतरित करके, अतएव समाज से मुक्त होकर ही कर सकते हैं। केवल तभी आपके पास अन्वेषण के लिए ऊर्जा होती है, पलायन या दमन के ज़रिये नहीं।

यदि आप इतनी दूर आ चुके हैं--तब आपको उस अनुशासन, उस संयम की प्रकृति का पता लगाना आरंभ करना होगा जिसे व्यक्ति अपनाता है--चाहे वह संयम-अनुशासन परंपरागत हो, अथवा इसलिए हो कि आप समझ चुके हैं। संयम की, अनुशासन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया होती है, जो कठोर नहीं है, जो किसी के अनुसार चलना नहीं है, जो किसी सुखदायक आदत विशेष का अनुकरण मात्र नहीं है। जब आप वैसा कर पाएंगे, तो आपको पता चल जाएगा कि सर्वोच्च कोटि की संवेदनशीलता की अपनी प्रज्ञा है। इस संवेदनशीलता के अभाव में आप सौंदर्य से परिचित नहीं हो पाते हैं।

एक धार्मिक मन के लिए संवेदनशीलता तथा सौंदर्य के इस असाधारण भाव के प्रति सजग होना ज़रूरी है। जिस धार्मिक मन के विषय में हम बात कर रहे हैं, वह रूढ़िवादियों के धार्मिक मन से पूरी तरह भिन्न है। क्योंकि उस परंपरावादी धार्मिक मन में सुंदरता का कोई भान नहीं है, वह इस विश्व से पूरी तरह अनजान है, जिसमें हम रहते हैं--इस विश्व की, इस धरती की सुंदरता, किसी पहाड़, किसी वृक्ष की सुंदरता, किसी मुस्कुराते हुए प्यारे चेहरे की सुंदरता से उसका कोई नाता नहीं है। उसके लिए सौंदर्य प्रलोभन है, उसके लिए सुंदरता नारी है, ईश्वर को पाने के लिए जिससे उसे हर कीमत पर बचना है। ऐसा मन धार्मिक मन नहीं है, क्योंकि वह संसार के प्रति संवेदनशील नहीं है--सुंदरता के संसार के प्रति, मलिनता के संसार के प्रति। आप केवल सौंदर्य के प्रति संवेदनशील नहीं हो सकते, आपको मलिनता के प्रति, गंदगी के प्रति, अस्त-व्यस्त मन के प्रति भी संवेदनशील होना होगा। संवेदनशीलता का अर्थ है सर्वत्र संवेदनशीलता, मात्र किसी विशेष दिशा में होने वाली संवेदनशीलता नहीं। अतः ऐसा मन, जो अपने सौंदर्य के प्रति स्वयं में ही सजग नहीं है, इस अन्वेषण में और आगे नहीं जा सकता। संवेदनशीलता का यह गुण होना आवश्यक है।

तब ऐसा मन, जो कि धार्मिक मन है, मृत्यु की प्रकृति को समझ लेता है। क्योंकि यदि यह मृत्यु को नहीं समझ पाता है, तो यह प्रेम को भी नहीं समझ पाएगा। मृत्यु जीवन का अंत नहीं है। मृत्यु कोई ऐसी घटना नहीं है, जो रोग, जराजीर्णता, वृद्धावस्था अथवा दुर्घटना की परिणति हो। मृत्यु तो कुछ ऐसी घटना है, जिसके साथ आप रोज़ जीते हैं, क्योंकि आप हर रोज़ उस सब के प्रति मर रहे होते हैं, जो-जो आपने जाना है। यदि आप मृत्यु से अवगत नहीं हैं, तो आप कभी नहीं जान पाएंगे कि प्रेम क्या है।

प्रेम स्मृति नहीं है; प्रेम कोई प्रतीक, कोई चित्र, कोई अवधारणा नहीं है; प्रेम कोई सामाजिक कृत्य नहीं है; न ही प्रेम कोई सद्गुण है। यदि प्रेम है, तो आप सद्गुणी हैं, आपको गुणवान बनने के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ेगा। परंतु प्रेम है नहीं, क्योंकि आपने कभी समझा ही नहीं कि मरना क्या होता है--अपने अनुभव के प्रति मरना, अपने सुखों के प्रति मर जाना, अपनी किसी ऐसी खास तरह की छिपी हुई याद के प्रति मर जाना जो आपको ही पता नहीं है। और जब आप इस सबको अंतस् से बाहर उलीचते हैं, तथा प्रत्येक क्षण स्वेच्छा से, सहजता से व बिना किसी प्रयास के, अपने घर के प्रति, अपनी स्मृतियों के प्रति, अपने सुखों के प्रति मर जाते हैं, तब आप जान पाएंगे कि प्रेम क्या है।

एवं सौंदर्य और मृत्यु के एहसास के बिना, प्रेम के बगैर आप यथार्थ को कभी नहीं जान पाएंगे, चाहे आप कुछ भी कर लें--सारे मंदिरों में चले जाएं, हर बुद्धिहीन व्यक्ति द्वारा आविष्कृत प्रत्येक गुरु का अनुसरण कर लें--इन तरीकों से आप यथार्थ को कभी नहीं जान पाएंगे। वह यथार्थ ही सर्जन है।

सर्जन का अर्थ शिशुओं का प्रजनन, या कोई तस्वीर बना लेना या कविता लिख लेना अथवा कोई अच्छा व्यंजन तैयार करना नहीं है--यह सब सर्जन नहीं है, यह तो किसी विशेष प्रतिभा, देन, अथवा कोई खास तकनीक सीख लेने का परिणाम मात्र है। आविष्कार सर्जन नहीं है। सर्जन केवल तभी हो सकता है जब आप समय के प्रति मृत हो जाएं--अर्थात् जब कोई कल न हो। सर्जन केवल तभी संभव है, जब ऊर्जा का संपूर्ण सघनीकरण होता है, जिसमें ऊर्जा की गति भीतर की ओर अथवा बाहर की ओर नहीं होती है।

कृपया इस बात पर ध्यान दीजिए। आप समझ पा रहे हैं या नहीं, इससे अंतर नहीं पड़ता। हमारा जीवन इतना घटिया, इतना दयनीय है, इसमें इतनी दुर्दशा, इतनी हताशा है। हम बीस लाख सालों से जीते आ रहे हैं, और नया कुछ भी नहीं है। हम केवल पुनरावृत्ति, ऊब तथा अपने द्वारा की गई प्रत्येक क्रिया की नितांत अर्थहीनता को ही जानते हैं। एक नूतन मन, एक निर्दोषता के, ताजगी के एहसास को अस्तित्व में लाने के लिए इस संवेदनशीलता, इस मृत्यु व प्रेम तथा उस सर्जन का होना जरूरी है। वह सर्जन तभी घटित हो पाता है, जब यह संपूर्ण ऊर्जा होती है, जिसमें किसी भी दिशा में कोई गति नहीं हो रही होती।

देखिए ! जब मन का किसी समस्या से सामना होता है, तो यह हमेशा इससे बाहर निकलने का रास्ता तलाश करता है, इसे हल करने की, इससे उबरने की, कतराने की, इसके ऊपर या पार जाने की कोशिश करता है, यानी कि यह समस्या के साथ सदा कुछ न कुछ करता रहता है, बाहर की ओर अथवा भीतर की ओर गति करता रहता है। यदि यह किसी भी दिशा में गति न करे--जब भीतर या बाहर की ओर गति हो ही नहीं, बस वह समस्या ही रह जाए--तब उस समस्या में ही एक स्फोट, एक प्रस्फुटन होता है। आप इसे कभी करके देखें, तो जो कहा जा रहा है आप उसकी वास्तविकता को देख पाएंगे--जिसके बारे में आपको विश्वास करने, बहस करने या न करने की ज़रूरत ही नहीं पड़ेगी। यहां कोई प्रमाण-सत्ता नहीं है।

अतएव जब ऊर्जा का यह सघनीकरण, एकत्रित हो जाना घटित होता है, जो निष्प्रयास होने का परिणाम है, तथा जब उस ऊर्जा में किसी भी दिशा में कोई गति नहीं होती है, उस क्षण ही सर्जन होता है। और यह सर्जन ही सत्य है, ईश्वर है या आप इसे जो भी कहें--तब नाम का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। तब वह विराट प्रस्फुटन, वह सर्जन ही शांति है, आपको शांति की तलाश नहीं करनी पड़ती। वह सर्जन प्रेम है।

और केवल ऐसा धार्मिक मन ही इस विभ्रम एवं विषाद से व्याप्त संसार में व्यवस्था ला सकता है। और यह आपका ही दायित्व है--आपका, किसी और का नहीं--कि इस संसार में रहते हुए ही ऐसा सर्जनात्मक जीवन जी सकें। मात्र ऐसा मन ही धार्मिक मन है, धन्य मन है।

**मुंबई, 3 मार्च 1965**